Airo International Research Journal
Volume XV, ISSN: 2320-3714
March, 2018
Impact Factor 0.75 to 3.19
UGC Approval Number 63012

भारतीय संस्कृति के दार्शनिक आधार

डॉ० जगतनारायण
माँ दुर्गानगर, कुरुक्षेत्र (हरियाणा)

सारांश

भारतीय संस्कृति जीवन को सुदृढ़ बनाने के लिए सदैव प्रेरित करती है । भारतीय संस्कृति ने जीवन को सुदृढ़ बनाने के लिए सदैव प्रेरित किया है । धेरैवेति चरैवेति इसका मंत्र रहा है । संस्कृति के माध्यम से हम समाज में प्रचलित रहन-सहन का ढंग, कला-साहित्य तथा आमोद-प्रमोद से सम्बन्धित विचारों का पता लगाते हैं । संस्कृति एक सामाजिक धरोहर है । भारतीय संस्कृति को सद्गुणों की पुञ्ज कहा गया है । यह अनेक संस्कृतियों का पुंजीभूत रूप है । वह कदली दण्ड् के समान थे । जैसे केले के पत्ते का निर्माण अनेक पत्तों से होता है वैसे भारतीय संस्कृति भी अनेक संस्कृतियों का सम्मिश्रण है । जिसे हम आज भारतीय संस्कृति कहते है जिसे आज हम भारतीय संस्कृति कहते हैं । उसमें द्रविड्, नाग, कोल, चील आदि संस्कृतियों का मिश्राण है । इसी अनेकता में एकता का न्याय 'भारतीय संस्कृति' है । यहाँ की वर्णाश्रम व्यवस्था एवं पुरुषार्थ चतुष्ट्य ने जीवन तथा समाज में यम-नियम को सफल बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है । यहाँ के ईश्वरवाद एवं पुनर्जन्मवाद ने सदैव निरंकुशता पर अंकुश रखा है । इसी संस्कृति की रक्षा के लिए महर्षि दधीचि ने अपनी हड्डियों को देवताओं को दे दिया। भारतीय संस्कृति का मूल स्रोत वैदिक साहित्य है । वेदों में प्रतिपादित भारतीय समाज की रूपरेखा एवं आदर्श जीवन के उपयोगी घटक ही इस संस्कृति के मूलभूत आधार है । उनका विवरण इस पत्र में देना अपेक्षित हैं ।

"संस्कृति" किसी भी देश, जाति तथा क्षेत्र की सभ्यता आचार- विचार, बौद्धिकता के दर्शन की द्योतक होती है ।[1] इसलिए संस्कृति को पूर्वजों की धरोहर के रूप में पीढ़ी-दर-पीढ़ी स्वीकार किया जाता है ।[2] संस्कृति का शाब्दिक अर्थ है - शुद्धाचरण, शुद्धकर्म, शुद्धनीति एवं श्रेष्ठ- गुणों का समावेश । भारत की संस्कृति विश्व की समस्त संस्कृतियों में अनन्यतम है ।[3] भारतीय संस्कृति का मुख्य आदर्श निष्काम कर्म है । भारतीय संस्कृति का मुख्य आदर्श निष्काम कर्म है वह समष्टि के लिए व्यष्टि-बलिदान के सिद्धान्त में विश्वास रखती है । "वसुधैव कुटुम्बकम" "आत्मवत् सर्वभूतेषु आदि इसके मूल मंत्र हैं । सत्य, अहिंसा, त्याग भारतीय संस्कृति के प्राण हैं । इसमें ईश्वर के समान आत्म को ही अनश्वर माना गया है -

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः । आत्मा की यही अमरता मानव की सद्कर्म की ओर प्रेरित करती है । भारतीय संस्कृति जीवन को सुदृढ़ बनाने के लिए सदैव प्रेरित करती है । भारतीय संस्कृति ने जीवन को सुदृढ़ बनाने के लिए सदैव प्रेरित किया है । धेरैवेति चरैवेति इसका मंत्र रहा है । संस्कृति के माध्यम से हम समाज में प्रचलित रहन-सहन का ढंग, कला-साहित्य तथा आमोद-प्रमोद से सम्बन्धित विचारों का पता लगाते हैं । संस्कृति एक सामाजिक धरोहर है । भारतीय संस्कृति को सद्गुणों की पुञ्ज कहा गया है । यह अनेक संस्कृतियों का पुंजीभूत रूप है । वह कदली दण्ड् के समान थे । जैसे केले के पत्ते का निर्माण अनेक पत्तों से होता है वैसे भारतीय संस्कृति भी अनेक संस्कृतियों का सम्मिश्रण है । जिसे हम आज भारतीय संस्कृति कहते है जिसे आज हम भारतीय संस्कृति कहते हैं । उसमें द्रविड्, नाग, कोल, चील आदि संस्कृतियों का मिश्राण है । इसी अनेकता में एकता का न्याय 'भारतीय संस्कृति' है । यहाँ की वर्णाश्रम व्यवस्था एवं पुरुषार्थ चतुष्ट्य ने जीवन तथा समाज में यम-नियम को सफल बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है । यहाँ के ईश्वरवाद एवं

पुनर्जन्मवाद ने सदैव निरंकुशता पर अंकुश रखा है । इसी संस्कृति की रक्षा के लिए महर्षि दधीचि ने अपनी हड्डियों को देवताओं को दे दिया।

भारतीय संस्कृति का मूल स्रोत वैदिक साहित्य है । वेदों में प्रतिपादित भारतीय समाज की रूपरेखा एवं आदर्श जीवन के उपयोगी घटक ही इस संस्कृति के मूलभूत आधार है । उनका विवरण इस पत्र में देना अपेक्षित है।

वर्ण व्यवस्था :

वर्ण-व्यवस्था का सर्वप्रथम उल्लेख ऋग्वेद में प्राप्त होता है ।[4] यजुर्वेद और अथर्ववेद में चारों वर्णों का उल्लेख अनेक बार हुआ है। यजुर्वेद में इन चार वर्णों के कर्त्तव्यों का बहुत सुंदर वर्णन हुआ है ।

ब्रह्मणे ब्राह्मणं क्षत्राय राजन्यं मरुद्भ्यो वैश्यं तपसे शूद्रम ।[5]

अर्थात् 1. ब्राह्मण का कर्त्तव्य है - ब्रह्मन, ज्ञान, शिक्षा और धर्म सम्बन्धी सभी कार्य, 2. क्षत्रिय का कर्त्तव्य ही - क्षत्र, राष्ट्र और देश की सुरक्षा, 3. वैश्य का कर्त्तव्य है - मरुत्, मरुत् देवों की तरह देश देशान्तर से व्यापार और धन की वृष्टि करना, राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को संभालना, 4. शुद्र का कर्त्तव्य है - तपस्, श्रम साध्य, सभी कार्य, शिल्प आदि । अथर्ववेद में ब्रह्मवी के प्रसंग में ब्रह्मण के इन गुण कर्मों का उल्लेख है - श्रम, तपस्या, ज्ञान, सत्य, श्री, यश, श्रद्धा, दीक्षा और यज्ञनिष्ठा ।[6] अथर्ववेद में निर्देश है कि आवश्यकता पड़ने पर ब्राह्मणों को भी धनुष रखने, शस्त्र चलाने और शत्रुओं को नष्ट करने का अधिकार है ।[7]

यहां यह स्मरण रखना चाहिए कि वैदिक वर्ण व्यवस्था 'कर्मणा' थी । यह गुण और कर्म पर आश्रित थी । इसका आधार वृत्ति या पेशा था न कि 'जन्मना' जन्म से । कोई भी शिक्षा क्षेत्र को चुनने वाला ब्राह्मण हो सकता था और सैन्य-सेवा से सम्बन्ध होने पर क्षत्रिय । तपोबल के आधार पर विश्वामित्र को ब्रह्म ऋषि माना गया और वे ऋग्वेद के वैदिक ऋषियों में मान्य हुए । वैदिक काल में चार वर्णों में सामंजस्य, प्रेम और सद्भाव था । ऊँच-नीच, छोटे-बड़े, स्पृश्य-अपृश्य आदि के भाव सर्वथा नहीं थे । चारों वर्णों को वेदाध्ययन का अधिकार था ।[8] अतएव यजुर्वेद और अथर्ववेद में चारों वर्णों की सुख समृद्धि और तेजस्विता की प्रार्थना की गई है ।[9] चारों वेदों में जाति व्यवस्था, जाति प्रथा अथवा जन्मना जाति का उल्लेख नहीं है ।

वेदों में ब्राह्मणों के लिए ब्रह्मण, ब्राह्मन्, विप्र (विप्-बुद्धि, र-युक्त) अर्थात् बुद्धिमान् या ज्ञानी और देव शब्दों का प्रयोग है) क्षत्रिय के लिए क्षत्र, क्षत्रिय और राजन्य शब्द है । वैश्य के लिए वैश्य, विश, आर्य, समार्य (सम+अर्य, समृद्ध वैश्य) शब्दों का प्रयोग है ।वेदों में कुछ रोचक प्रसंग हैं उनमें विप्रराज्य (ब्राह्मण राज्य) समर्य-राज्य (वैश्य राज्य, समृद्ध वैश्यों का राज्य उल्लेख है) । ऋग्वेद और अथर्ववेद में विप्र राज्य का उल्लेख है और कहा गया है कि यह समुद्र की तरफ फैला हुआ है । इसमें यज्ञ और धार्मिक क्रियाकलाप पर विशेष बल दिया जाता था ।[10] समृद्धराज्य के वियय में कहा गया है कि यह महान् या उत्कृष्ट था । इसमें धन-धान्य की समृद्धि और सैन्यशक्ति प्रबल थी ।[11] कुछ न्यूनताओं के कारण ये दोनों शासन पद्धतियां लोकप्रिय नहीं हुई और समाप्त हो गई । उल्लेखनीय है कि वेदों में शूद्रों को समानता का अधिकार दिया गया है । उन्हें कभी भी हीन या निकृष्ट नही माना गया है । उन्हें वेद पढ़ने का अधिकार दिया गया है ।[12] उनको राजकृत अर्थात् राजा के निर्वाचकों में स्थान दिया है । इनमें रथकार (बढ़ई), कर्मा (शिल्पी), सूत (सारथि) शुद्र वर्ग से है ।[13] इसी प्रकार रत्नियों (राज्य-संचालकों) में भी तक्षा (बढ़ई), रथकार (बढ़ई, शिल्पी) और सूत को स्थान दिया गया है ।[14] ये सभी शूद्रवर्ग से संबद्ध है ।

आश्रम-व्यवस्था :

वेदों में आश्रम-व्यवस्था का उल्लेख मिलता है। ब्रह्मचर्य और गृहस्थ आश्रम के विषय में बहुत सामग्री मिलती है । वानप्रस्थ और संन्यास के विषय में बहुत कम सामग्री उपलब्ध है ।

ब्रह्मचर्य आश्रम :

यह उपनयन संस्कार से प्रारम्भ होकर समावर्तन संस्कार के साथ समाप्त होता था । उपनयन सस्स्कार (जनेऊ-धारण) शिक्षा आरम्भ का प्रतीक था । इस संस्कार के बाद शिष्य और शिष्याएँ वेद और शास्त्र का अध्ययन करते थे । बालकों के तुल्य ही बालिकाओं का भी यज्ञोपवीत होता था । वे भी मेखला पहनती थी ।[15] बालिकाओं को गृहकार्य और ललित कलाओं की शिक्षा देकर सुयोग्य गृहिणी बनाया जाता था । जिस प्रकार विवाह से पूर्व

बालकों को ब्रह्मचर्य का पालन करना पड़ता था, उसी प्रकार बालिकाएँ भी ब्रह्मचारिणी रहती थी ।[16] वेदों में ब्रह्मचर्य और संयम पर बहुत बल दिया है । केवल बालक व बालिकाएं ही नहीं, अपितु आचार्य के लिए भी अनिवार्य था कि वह पूर्ण संयमी हो ।[17] यज्ञोपवीत के तीन धागे तीन ऋणों के प्रतीक है । ये 3 ऋण हैं 1. ऋषि-गण, 2. देव-ऋण, 3. पितृ-ऋण । तैत्तिरीय संहिता में कहा गया है कि मनुष्य पर ये तीन ऋण जन्म से ही होते हैं ।[18] इन्हें उतारना उसका कर्तव्य है । इन्हें उतारने का प्रकार यह है - 1. ब्रह्मचर्य-पालन और ज्ञान-प्रसार से ऋषि-ऋण उतरता है । 2. यज्ञ करने से देव ऋण उतरता है । 3. माता-पिता की सेवा और उत्तम संतान को जन्म देने से पितृ-ऋण उतरता है ।

ब्रह्मचर्य के मुख्य नियम :

संयमी और तपस्वी जीवन बिताना, भोग-विलास की सामग्री से दूर रहना तथा अनुशासित दिनचर्या । यह कठोर अनुशासित जीवन ही उनके भावी जीवन को सुखमय बनाता है । बालक स्नातक होने पर विवाह करते थे । कुछ आजीवन ब्रह्मचारी रहते थे । इसी प्रकार बालिकाएं भी स्नातक होकर कुछ विवाह कर लेती थी, उन्हें "सद्योद्वाहा" कहते थे और कुछ आजन्म ब्रह्मचारिणी रहती थी । उन्हें ब्रह्मवादिनी कहा गया है । ये तपोमय जीवन व्यतीत करते हुए शस्त्रचर्च में मग्न रहती थी । ऐसी ब्रह्मवादिनी नारियों में गार्गी, मैत्रेयी आदि उल्लेखनीय हे।

गृहस्थ आश्रम :

विवाह के पश्चात गृहस्थ आश्रम प्रारम्भ होता है । वेदों में गृहस्थ दम्पत्ति के कर्त्तव्यों का बहुत विस्तार से वर्णन है । पति के कर्त्तव्यों में उल्लेखनीय बाते ये हैं - पत्नी के भरण पोषण का पूर्ण उत्तरदायित्व निभाना, परिवार की उन्नति की व्यवस्था करना, सन्तान की सुशिक्षा का प्रबंध करना, संयमी जीवन बिताना । पत्नी के कर्त्तव्यों में विशेष उल्लेखनीय बाते ये है - ऋग्वेद का कथन है कि 'जायेदस्तम्' अर्थात जाया-पत्नी, इत्-ही, आस्तम्-घर है ।[19] इसको ही संस्कृत में कहा गया है कि 'ना गृहं गृहमित्याहुः, गृहणी गृहमुच्यते' घर को घर नहीं अपितु गृहणी को गृह कहते है । घर की पूरी व्यवस्था संभालना पत्नी का कर्त्तव्य है । वह बड़ों की सेवा के, पति की आवश्यकतायें पूरी करें, सन्तान का भरण पोषण और शिक्षा की व्यवस्था करें । वह परिवार की स्वामिनी होती है । अतः उसे गृहस्वामिनी, गृहलक्ष्मी, सम्रज्ञी आदि कहा गाय है । सास-ससुर भी उसका कहना मानने को बाध्य है ।

अथर्ववेद में पारिवारिक जीवन को सुखद बनाने के लए कुछ सुन्दर उपदेश दिये हैं । संक्षेप में वे ये है - पति-पत्नी सदा उद्यमशील हों, नवीन उद्योग करें, उद्यमी को ही इस संसार में सुख मिलता है ।[20] परिवार को मधुरता का वातावरण हो । परस्पर मधुर वचन बोलें ।[21] हास्य और आमोद का वातावरण हो ।[22] पति-पत्नी सुशिक्षित हो और व्यवहार कुशल हो । पत्नी विदुषी, तेजस्विनी और वक्ता हो ।[23] भाई-बहिनों और भाई- भाईयों में द्वेष ना हो।[24] बालक माता-पिता के आज्ञाकारी हों ।[25] पत्नी-पति की आज्ञाकारिणी हो और पति से सदा मधुर वचन बोले । घर की सुरक्षा के विषय में सदा दोनों सावधान रहें ।[26] अधिक विषय भोग में ना फंसें ।[27]

वानप्रस्थ एवं संन्यास आश्रम :

वेदों में इस विषय की सामग्री अत्यल्प है । भिक्षु, परिव्राजक आदि शब्द वेदों में नहीं है । यति, मुनि, मुमुक्षु शब्दों का भी प्रयोग दो तीन बार है ।[28] यति शब्द का संबंध यम्-धातु से है । संयमी जीवन बिताने वाले को यति कहते थे । मुनि का संबंध मनन से है जो मनन, चिन्तन और स्वाध्याय में मग्न रहते थे, उन्हें मुनि कहा जाता था । अथर्ववेद में 'मनिकेशम्' शब्द आया है ।[29] इससे ज्ञात होता है कि मुनि जटा रखते थे । संन्यासी मोक्ष के लिए प्रयत्नशील रहता था । अतः उसे मुमुक्षु (मुक्ति का इच्छुक) कहा गया है ।[30]

भारतीय संस्कृति में नारी का गौरव :

वेदों में नारी को बहुत आदरणीय स्थान दिया गया है वह पुरुष की सहयोगी और सहायक है । 'जायदस्तम्' (ऋग्॰ 3.53.4) स्त्री को ही घर कहा गया है विवाह के पश्चात् उसे पति गृह में गृहपत्नी, गृहस्वामिनी का अधिकार प्राप्त होता है ।[31] एक और उसे पति, सास ससुर आदि की सेवा-शुश्रूसा तथा उनकी देखरेख का उत्तरदायित्व दिया जाता है, दूसरी और गृहस्वामिनी के रूप में सास-ससुर, ननद आदि की साम्रज्ञी (स्वामिनी) कहा गया है ।

स्त्री सहधर्मिणी होती है । उसे अर्धांगिनी कहते है ।[32] इसलिए पत्नी के बिना यज्ञ अपूर्ण माना जाता है ।[33] ऋग्वेद में स्त्री का गौरव बताते हुए उसे 'ब्रह्मा' कहा गया है ।[34] इसका अभिप्राय ये है कि ब्रह्मा का स्थान ग्रहण कर सकती है और विभिन्न संस्कार करा सकती है । वेदों में इंद्राणी को आदर्श नारी के रूप में प्रस्तुत किया गया है । उसका कथन है कि मै समाज में मूर्धन्य हूँ । मै अग्रगम्य हूँ और मै प्रखर वक्ता हूँ ।[35] ईद्राणी का ही कथन है कि कोई मुझे अबला न समझे, मै सबला हूँ और वीर पुत्रों की जननी हूँ ।[36]

वेदों में नारियों की शौर्य की बहुत चर्चा है तैत्तिरीय ब्राह्मण में ईद्राणी को सेना की देवता कहा गया है साथ ही यह भी कहा गया है कि ऐसा करने से सेना के शौर्य में निखार आता है ।[37] इंद्राणी को सेनानी बताते हुए कहा गया है कि वह अजय और अदृश्य है ।[38] इंद्राणी के लिए कहा गया है कि वह शत्रु सेना को काटती हुई आगे बढ़ती है ।[39] ऋग्वेद में स्त्री सेना का भी उल्लेख है । असुरों ने स्त्री सेना को आगे किया ।[40] ऋग्वेद में विवरण है कि शत्रुओं से युद्ध करते हुए विपष्ला का पैर कट गया था । अश्विनी कुमारों ने उसे नकली लोहे की टांग लगा दी और वह फिर से युद्ध में भागने सकी ।[41] इस प्रकार मुद्गलानी (मुद्गल की पत्नी) के लिए कहा गया है कि उसने असुरों से युद्ध कर गायें छुड़ा ली ।[42] अथर्ववेद में वर्णन है कि स्त्री पति के साथ सामूहिक यज्ञों और युद्धों में जाती थी ।[43] मन्त्र में 'समन' शब्द का प्रयोग है इसके दो अर्थ है - सभा या समारोह और युद्ध । दोनों अर्थ यहां संगत है । ऋग्वेद और यजुर्वेद में स्त्री के लिए विशेषण दिए गए है, इनसे उनके शौर्य और गौरव पर प्रकाश पड़ता है । इनमें नारी को आषाड़ा (अजय), सहमाना (विजयिनी), सहस्त्रवीर्या (असंख्य पराक्रम वाली), असपत्ना (अशत्रु), सपत्नघ्नी (शत्रुनाशक), जयन्ती (विजेता), अभिभूवरी (हर देने वाली) कहा गया है ।[44] वेदों में मंत्रद्रष्टा ऋषि के रूप में भी उनका योगदान स्पृहणीय है । 422 मंत्रों की दृष्टा ऋषिकाएं हैं ।[45] इनमें विशेष उल्लेखनीय है - इंद्राणी, शची, अपाला, घोषा, काशीवती, लोपामुद्रा, श्रद्धा कामायनी, वाग्, अम्भाभृणी, सूर्यसावित्री, विश्वारा, आत्रेयी, उर्वशी, आदिति ।

स्वयंवर :

अथर्ववेद में एक मंत्र से स्वयंवर विवाह का संकेत मिलता है । मंत्र में कहा गया है कि आए हुए जनों का नाम लेता हूँ और उनमें से वृत्रहन्ता इद्र को चुनता हूँ ।[46] इससे ज्ञात होता है कि स्वयंवर में आए हुए प्रार्थियों का नाम लेकर उनका परिचय दिया जाता था और कन्या उनमें से किसी एक को अपना पति चुनती थी । ऋग्वेद में इसी प्रकार के एक स्वयंवर का वर्णन है । राजा पुरुमित्र की कन्या शुन्ध्यु या कमद्यु ने स्वयंवर सभा में विमद ऋषि को अपना पति चुना था ।[47] विवाह करके लौटते समय कुछ अन्य राजाओं ने विमद पर आक्रमण कर दिया था । अश्विनी कुमारों की सहायता से विमद को विजय प्राप्त हुई थी ।

प्राचीन भारत में शिक्षा :

शिक्षा के विषय में प्राचीन भारतीयों का बहुत ऊँचा विचार था । अशिक्षित मनुष्य मृत के समान माना जाता था । उनकी दृष्टि में विद्या ही वह अमृत है जो व्यक्ति को सच्चा जीवन देता है । शिक्षा से किसी भी राष्ट्र की नींव दृढ़ बनती है । भारतीय संस्कृति की और ज्ञान की उन्नति का अधिकांश श्रेय यहां की उस शिक्षा पद्धति का था जो कई सहस्त्र वर्षों से जनता की सहयोग और प्रोत्साहन से विद्वान आचार्यों द्वारा चलती रही ।

वैदिक काल :

प्रारम्भिक वैदिक युग में छन्द या वेद का अध्ययन मुख्य विषय था । वैदिक युग का आदर्श विद्वान् ऋषि कहा जाता था । प्राचीन परिभाषा के अनुसार ऋषि वह है जो ज्ञान का साक्षात् करें (ऋषिदर्शनात्) । ऋषियों ने धर्म या सृष्टि के अखण्ड नियमों का अनुभव किया था (साक्षात्कृत धर्माण: ऋषय: वभूवु:) ।

उत्तर वैदिक काल :

इस युग की प्रधान शिक्षा संस्था 'चरण' कहलाती थी । चरण में विद्यार्थी अपने आचार्य के पास रहकर वेदों और अन्य विद्याओं का अध्ययन करते थे । चरण को आचार्य कुल और गुरुकुल भी कहते हैं ।

शिक्षक :

चरण या गुरुकुल में सर्व उच्च पद आचार्य का होता था ।आचार्य को केन्द्र मानकर ही चरणरा का संगठन होता था । आचार्य ही विद्यार्थी का उपनयन कराता और उसे ब्रह्मचर्य व्रत्र की दिक्षा देता ।

दूसरा स्थान प्रवक्ता का होता था । प्रवक्ता विद्यार्थियों को वेद आदि विद्याओं पर भाषण देते थे । इनके बाद अध्यापक होते थे । ये फुटकर लौकिक ग्रंथों को पढ़ाते थे । आगे चलकर इनको उपाध्याय कहा जाने लगा । एक प्रकार के गुरु 'क्षेत्रिय' होते थे । इन्हें स्वयं वेद कंठ रहते थे और ये लोग छात्रों को सस्वर वेद पाठ की शिक्षा देते थे ।

विद्यार्थी :

उपनयन से पहले छोटी आयु के विद्यार्थी माणवक या दंडमाणव कहलाते थे । ये लोग प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त करते थे । उपनयन के बाद विद्यार्थी को 'अन्तेवासी' कहा जाता था । ये लोग आचार्य के साथ ही निवास करते थे। और विभिन्न विद्यार्थियों का अध्ययन करते थे । उदालक आरूणि का पुत्र श्वेतकेतु बारह वर्ष तक आचार्य के यहां अन्तेवासी होकर रहा और उसने सब विद्याएँ पढ़ी ।

चरक :

तीसरी कोटि के विद्यार्थी चरक कहलाते थे । ये लोग आचार्य के पास शिक्षा पूरी करके और स्नातक बनकर ज्ञानोपार्जन के लिए आगे विचरण करते थे । इसी से उन्हें चरक (वान्डरिंग स्कालर्स) कहा जाता था । इनका मुख्य ध्येय देशदर्शक था जिसे जनपद-परीक्षा कहा जाता था । इस स्थिति में ये लोग घूमकर लोगों के आचार, व्यवहार और रहन-सहन का अध्ययन करते थे और संसार को अपनी आंखों से देखकर समझने का प्रयत्न करते थे ।अपनी यात्रा में ये लोग देश के विद्वानों और आचार्यो से भी परिचय प्राप्त करते थे और उनके सम्पर्क में आकर अपनी विद्या को माँजते थे ।

शिक्षा पद्धति :

शिक्षा का उद्देश्य-प्राचीन शिक्षा का उद्देश्य था शिष्य का सर्वांगीण विकास । उसकी ज्ञान ज्योति को प्रबुद्ध करना, उसे प्रखर से प्रखर बनाना और उसके जीवन को सर्वथा सौभाग्यशाली बनाना ।[48] विद्या के साथ ही व्युत्पत्ति (सुमति, विवेक), का भी समन्वय हो, अतः कहा गया है कि सरस्वती के साथ धी (विवेक) भी हो ।[49] इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए दो साधन बनाए हैं तप (कठोर अनुशासन) और दीक्षा (समर्पण) ।[50] कठोर अनुशासन और आत्म समर्पण ही इस उद्देश्य की पूर्ति कर सकता है ।

प्राचीन शिक्षा-पद्धति में संयम और चरित्र को बहुत महत्त्व दिया गया है । गुरु और शिष्य दोनों के लिए यह अनिवार्य गुण बताया गया है ।[51] वेदों में धी (बुद्धि), मेधा (धारण शक्ति), सुमति (विवेक), को शिक्षा का आधार माना है । अतः अनेक मंत्रों में इनकी प्रार्थना की गई है ।[52] एक मंत्र में इससे आगे जाकर 'ऋतम्भरा' प्रज्ञा का उल्लेख किया गया है और इससे सूर्यवत् तेजस्विता प्राप्त होने का उल्लेख है ।[53] ऋतम्भरा प्रज्ञा योगियों और महर्षि को ही प्राप्त हो पाती थी । शिक्षा के विषयों को देखने से ज्ञात होता है कि इसमें शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक सभी शक्ति के विकास का समावेश है । प्राणायाम, योगविद्या, शस्त्र- अस्त्र विद्या, मल्ल विद्या, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गणित, ज्योतिष आदि सभी शिक्षा के विषय थे ।

साधारणतया दो वस्त्रों का व्यवहार होता था । वासस् (अधेवस्त्र) और अधिवास (ऊपरी भाग को ढकने वाला वस्त्र) ।[54] ऊपर से डाले जाने वाले दुपट्टा या चादर को अधिवस्त्र कहते थे ।[55] यह अधिवस्त्र बहुएं आदि अपने वस्त्रों के ऊपर से डालती थी । ओढ़ने के काम आने वाली हल्की चादर के लिए 'पर्याणहन' शब्द है ।[56] नीवि करोति जैसे शब्द से अन्तर्व स्त्र (या पेटीकोट) का भाव प्रकट करते है । शरीर के ऊपरी भाग को ढकने के लिए दो प्रकार थे - ढीला चोगा जैसा कपड़ा पहनना । इसके लिए 'पर्याणहन, अधिवास और उपवासन' जैसे शब्द थे । दूसरा प्रकार था शरीर से चिपकने वालेकुत्ते आदि के तुल्य वस्त्र पहनना । ये सिले हुए वस्त्र होते थे । इस पर सोने के तार का काम भी होता था अतः उसे 'हिरण्यद्रपि' कहते थे ।[57] बेल-बूते कढे हुए परिधान को पेशस् कहते थे । यजुर्वेद में सोने के तार का काम करने वाली और बेल-बूटे काढ़ने वाली स्त्रियों को 'पेशस्कारी' कहा गया है ।

आभूषण :

वेदों में अनेक आभूषणों का वर्णन है ।आभूषणों के दो भेद थे - 1. मणिजटित, 2. मणिरहित । वेदों में अनेक मणियों का वर्णन प्राप्त होता है मणिबन्धन का बहुत महत्त्व वर्णन किया गया है ।[58] मणि के लिए मणि और

रत्न दोनों शब्दों का प्रयोग मिलता है । रत्न धारण करने वाले को 'रत्नधा' और 'रत्निन्' कहते थे ।[59] सुवर्ण (सोने) आदि के बने आभूषणों में ये मुख्य थे –

1. निष्क :

यह सोने का आभूषण था और गले में पहना जाता था । इसे पहनने वाले को 'निषकग्रीव' कहते थे । क्षत्ता (दूत) आदि इसे पहनते थे ।[60]

2. रुक्म :

यह छाती पर लटकने वाला सोने का आभूषण था । इसको पहनने वाले को 'रुक्मवक्षस्' या 'रुक्मिन्' कहते थे ।[61] यह गोलाकार होता था । मरुतों को 'रुक्मवक्षस:' कहा गया है ।

3. हिरण्य :

अथर्ववेद में 'हिरण्यहस्त:' प्रयोग है ।[62] यह हाथ में पहना जाने वाला सोने का कंकण (कंगन) आदि है।

4. प्रवर्त :

यह कान में पहना जाने वाला कर्णाभरण है ।[63] यह दोनों कानों में पहना जाता है । श्रौतसूत्रों में इसे कर्णाभरण कहा गया है । तैत्तिरीय संहिता में इसे कान का बूंदा बताया है । ऋग्वेद में सोने बने कर्णाभरण्य को 'कर्णशोभन' नाम दिया गया है ।[64]

5. मणिमाला :

पुरुष और स्त्री रत्नजटित सोने की माला गले में पहनते थे । उन्हें 'मणिग्रीव' कहा जाता था ।[65]

6. काशर्न :

कृष्न (मणि) जटिल सोने के आभूषण को कार्शन कहते थे ।[66]

7. खादि :

ऋग्वेद में यह पैर में पहना जाने वाला एक आभूषण बताया गया है । मारुत्देव इसे पैर में पहनते थे ।

अथर्ववेद का कथन है कि सोने और चांदी के आभूषणों को धारण करने से मनुष्य दीर्घायु होता है और अकालमृत्यु से बचकर वृद्धावस्था तक जीवित रहता है ।

नगर और ग्राम :

वैदिक साहित्य में नगर के अर्थ में 'पुर' और 'पुर' शब्द मिलते हैं । पाश्चात्य विद्वानों ने पुर् शबद का अर्थ दुर्ग या किला लिया है । तैत्तिरीय संहिता आदि में त्रिपुर और 'महापुर' शब्द मिलते है ।[67] त्रिपुर में संभवत: तिहरी सुरक्षा की दीवारें होती थी ।महापुर विशाल नगर के लिए है । अथर्ववेद में परों के निर्माता देवगण बताए गए है ।[68] इसका अभिप्राय यह है कि देवों में भी उच्चकोटि के शिल्पी होते थे । ऋग्वेद में वर्णन है कि असुरों के किले (पुर्) पत्थर के बने होते थे । ऐसे सौ किलों को इन्द्र ने नष्ट किया ।[69] अन्यत्र वर्णन है कि ऐसे 99 पुरों को नष्ट करके इन्द्र ने वृत्र और नामुचि राक्षसों को मारा ।[70]

पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित होकर आज हम भौतिकता की होड़ में अपनी संस्कृति के रूप को पीछे छोड़ आए हैं । उसे भूल चुके हैं । हम यह भूल गए हैं कि हमारी संस्कृति ही हमारी शक्ति एवं पहचान है। हमारी प्राचीन शिक्षा पद्धति हमारी संस्कृति से युक्त थी । हवन-यज्ञ, गुरु, शिष्य, परम्परा, देवऋषि अर्चना-सम्मान, पूर्वजों के सदाचार का अनुसरण, त्याग संयम, मर्यादा आदि का व्यावहारिक ज्ञान विद्यार्थी को दिया जाता था ।

संदर्भ :

1. वामन शिवराम आप्टे, संस्कृत हिन्दी शब्द कोश
2. गीता, 2.23
3. 'संस्कृति साहित्य और भाषा', ले० डॉ० अम्बाप्रसाद 'सुमन', बासन्ती प्रका० हरिनगर अलिगढ़, पृ० 97
4. ब्राह्मणोऽस्य मुख्यमासीद्.....अजायत ॥ ऋग्० 10.90.12, यजु० 31.11

5. यजु॰ 30.5
6. श्रमेणा तपस.....प्रतिष्ठिता । अथर्व॰ 12.5.1 से 3
7. तीक्ष्णेपवो ब्राह्मणा.....मृपा । अथर्व॰ 5.18.19
8. यथेमा वाचं.....चार्याय च । यजु॰ 26.2
9. रूचं तो ..... रुचम् । तदेव, 18.84
   प्रिय मां ..... उतार्ये । अथर्व॰ 19.62.1
10. ऋग्॰ 8.3.4, अथर्व॰ 20.104.2
11. ऋग्॰ 9.110.2
12. यजु॰ 26.2
13. अथर्व॰ 3.5.6 और 7
14. शत्॰ 3.4.1.7 मैत्रा॰ सं॰ 2.6.5
15. ऋत्तैत्ति॰ ब्रा॰ 3.3.3.2
16. अथर्व॰ 11.5.18
17. तदेव, 11.5.16
18. तैत्ति॰ सं॰ 6.3.10.5
19. ऋग्॰ 3.53.4
20. अथर्व॰ 6.122.3
21. तदेव, 16.2.2
22. तदेव, 14.2.43
23. ऋग्॰ 10.159.2
24. अथर्व॰ 3.30.3
25. तदेव, 3.30.2
26. तदेव, 14.1.42 लृ 3.25.4
27. तदेव, 3.30.2
28. अथर्व॰ 2.6.3
29. ऋग्॰ 7.21.5
30. अथर्व॰, 20.9.3 लृ 20.49.6 लृ 7.74.1 लृ ऋग्॰ 8.17.14 लृ श्वेता॰ उप॰ 6.18
31. ऋग्॰ 10.85.25
32. शत॰ 5.2.1.10
33. तैत्ति॰ ब्र॰ 2.2.2.6
34. ऋग्॰ 8.33.19
35. तदेव, 10.159.2
36. अथर्व॰ 20.126.9
37. तैत्ति॰ सं॰ 2.2.8.1
38. अथर्व॰ 1.27.4
39. तदेव, 1.27.2
40. ऋग्॰ 5.30.9
41. ऋग्॰ 1.116.15
42. तदेव, 10.102.2

43. अथर्व॰ 20.126.10
44. यजु॰ 13.36
45. अथर्व॰ 10.159.5
46. अथर्व॰ 6.82.1
47. ऋग्॰ 10.39.7
48. अथर्व॰ 7.16.1
49. तदेव, 19.11.2
50. तदेव, 19.41.1
51. तदेव, 11.5.16
52. तदेव, 6.4.3
53. तदेव, 20.114.1
54. ऋग्॰ 1.140.9
55. तदेव, 8.26.13
56. अथर्व॰ 14.2.12
57. तदेव, 5.7.10
58. अथर्व॰ 19.46
59. तैत्ति॰ 1.8.9.1
60. अथर्व॰ 5.17.14
61. अथर्व॰ 6.22.2 यजु॰ 13.40
62. तदेव, 7.115.2
63. तदेव, 15.2.5
64. ऋग्॰ 8.78.3
65. तदेव, 2.122.14
66. अथर्व॰ 4.10.1
67. शतपथ॰ 6.3.3.24 तैत्ति॰ 6.2.3.1
68. अथर्व॰ 12.1.43
69. ऋग्॰ 4.30.20
70. अथर्व॰ 20.17.5